

कौनसी पुस्तकें पाठ्य हैं ?

अपूर्वानन्द

यह व्याख्यान शिक्षा विमर्श व्याख्यान शृंखला में दिया गया है। स्कूली शिक्षा में पाठ्यपुस्तकों की क्या भूमिका है ? पाठ्यपुस्तक निर्माण की प्रक्रिया क्या है ? अपनी शक्ति ग्रहण करने से पहले पाठ्यपुस्तकें किन तनावों और दबावों से गुजरती हैं ? ऐसे ही सवालों की व्यावहारिक स्थितियों में पड़ताल करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक सरकार पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से राष्ट्र-राज्य की छवि को नागरिकों के मस्तिष्क में भरने का जरिया मानती रही है।

दोस्तो, इसको इत्तफाक कहें या कोई योजना जिसका पता हम में से किसी को नहीं कि जब हम पाठ्यपुस्तकों के मसले पर बातचीत करने जा रहे हैं तो रोशनी गुल है। वैसे विश्वविद्यालयों की रोशनी गुल होने का वक्त धीरे-धीरे आ रहा है। इसका अंदाज शायद विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे और अभी पढ़ रहे लोगों को होगा। इसकी पूरी तैयारी हो गई है और अप्रैल 2007 में जब आप ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना को लागू होता हुआ देखेंगे तो आप यह पाएंगे कि खासकर उच्च शिक्षा से सरकार की भागीदारी की विदाई का काम शुरू किया जा रहा है। दसवीं पंचवर्षीय योजना में इसकी आहट मिली थी लेकिन ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में पूरे तौर पर इसके संकेत दिए जा रहे हैं कि उच्च शिक्षा से सरकार की विदाई कैसे होगी और उसमें निजी खिलाड़ी किस तरह और किन अधिकारों के साथ शामिल किए जाएंगे। बहरहाल, यह एक अलग बहस का मसला है।

राजस्थान में अभी पाठ्यपुस्तक पर बात करना जो आज की बातचीत का विषय है, खास मायने रखता है क्योंकि आप यह देख रहे होंगे कि एक महीना पहले से राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों को लेकर एक बहस-सी छिड़ी हुई है। पाठ्यपुस्तकों पर बहस मेरी याददाश्त में या हमारी पीढ़ी के लोगों की याददाश्त में आज से तकरीबन तीस साल पुरानी है। मैं आपको 1977 में ले जाना चाहता हूँ, जब जनता पार्टी की सरकार केन्द्र में आई थी और पाठ्यपुस्तक पर पहली बहस प्रोफेसर रामशरण शर्मा की इतिहास की पाठ्यपुस्तक 'प्राचीन भारत' की प्रतियों को सड़कों पर जला कर शुरू की गई थी। इस तरह पाठ्यपुस्तक पर बहस किसी अकादमिक तरीके से नहीं, यूनिवर्सिटी के कमरों में शिक्षकों के बीच भी नहीं बल्कि सड़क पर और किताब को जलाकर की गई थी। मुझे यह लगता रहा है कि 1977 में जो पाठ्यपुस्तकें जलाई गईं और उनसे जो धुआं उठा, वह पाठ्यपुस्तकों के विचार विमर्श के आकाश पर अभी भी छाया हुआ है। वह छंटा नहीं है और शायद हम उससे ढके रहने को अभिशप्त हैं।

1977 से लेकर अब तक पाठ्यपुस्तकों पर जो बहस हुई है उसे मैंने बहुत दिलचस्पी से देखा और पढ़ा है। और इसमें मुझे हमेशा एक तरह का मजा आता रहा है कि कैसे सारे लोग एक ऐसे तर्क को मानने लगे हैं जो तर्क है ही नहीं। यानी अखबारों में लिखते हुए, लोगों को कहते हुए और मानते हुए मैंने सुना है कि जब-जब

लेखक परिचय :

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर, साहित्यिक समालोचना लिखते हैं।

सम्पर्क :

125, शाहपुर जाट, नई दिल्ली - 110049

सरकार बदली है तब-तब पाठ्यपुस्तकें बदल गई हैं। और उसके बाद आप यह भी देखेंगे कि बहुत समझदार लोग यह कहते हुए पाए जाते हैं कि ठीक ही है, कल आपकी सरकार थी, आपने अपने ढंग की पाठ्यपुस्तक बना लीं, आज इनकी सरकार आ गई है और इनको अपने ढंग की पाठ्यपुस्तक बनाने की आजादी है। यह बहस आज से तकरीबन सात साल पहले एक दूसरी तेजी से आगे बढ़ी जब सन 2000 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद के द्वारा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा को बदला गया और नई पाठ्यचर्या बनाई गई।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा सन 2000, को लेकर जो एनसीएफ: 2000 के रूप में लोगों में लोकप्रिय है, काफी हंगामा हुआ क्योंकि एनसीएफ 2000 के सहारे इतिहास की किताबों और दूसरी किताबों में परिवर्तन के नुकते सुझाए जा रहे थे। आप जानते हैं कि उसको लेकर एक मुकदमा हिन्दुस्तान की सबसे ऊंची अदालत में काफी दिनों तक चलता रहा और अंत में सर्वोच्च न्यायालय ने यह फैसला दिया कि एनसीईआरटी को यह हक है कि वह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा को अपने ढंग से बदले। हालांकि उसे राष्ट्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद की राय लेनी चाहिए लेकिन ऐसा करना उसकी बाध्यता नहीं है। और ऐसा दो कारणों से हुआ। उस संवैधानिक स्थिति को भी आपमें से ज्यादातर लोग जानते होंगे जिसके चलते शिक्षा हिन्दुस्तान में समवर्ती सूची में है। यानी शिक्षा को लेकर कौनसी नीति लागू होगी इसमें केन्द्र का एक मात्र दखल नहीं है। राज्यों को इस बात की आजादी है कि वे अपने यहां शिक्षा की रूपरेखा और शिक्षा देने के तौर तरीकों को तय करने का काम करें। इसकी स्वायत्तता उनके पास है क्योंकि शिक्षा समवर्ती सूची में है। और शायद इसीलिए राष्ट्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद सिर्फ एक सुझाव देने वाली संस्था है, वह कोई वैधानिक संस्था नहीं है। इस वजह से सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार की कोई बाध्यता नहीं है कि वह ऐसी संस्था को जो वैधानिक नहीं है उसके (सर्वोच्च न्यायालय) पास उस दस्तावेज को ले ही जाए, जो राष्ट्रीय स्कूली पाठ्यचर्या का दस्तावेज है। उसे लागू करने का अधिकार उसके पास है। लेकिन उस समय जो पूरी बहस चली वह दिलचस्प इसलिए थी क्योंकि उस पूरी बहस में एक पद बहुत ज्यादा प्रचलित हुआ। वह था शिक्षा का भगवाकरण। और मुझे हमेशा लगा कि जब भी हम शिक्षा का भगवाकरण कहते हैं तो बहुत सारी चीजों को सरलीकृत कर देते हैं। दूसरी दिलचस्प चीज मुझे यह लगी कि वह पूरी बहस इतिहास की किताबों के इर्दगिर्द घूमती रही। गोया कि हिन्दुस्तान की शिक्षा का कुल किस्सा इतिहास की किताबों में आकर सिमट जाता है और वहीं खत्म हो

जाता है और बाकी विज्ञान हो, भाषा हो या गणित हो या समाज विज्ञान हो, इनकी किताबों और इनकी पढ़ाई को लेकर कोई मसला ही नहीं है। वह सारी बहस इतिहास की किताबों को लेकर थी।

2000 के बाद समय गुजरता है। 2004 आया और 2004 के चुनावों में सारी आकांक्षाओं और सारी आशाओं के विपरीत भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार हार गई और नई सरकार सत्ता में आई। इसके बाद इत्तफाक से एनसीईआरटी का निजाम भी बदला। उसमें नए निदेशक नियुक्त हुए और उसके बाद एक निर्देश जारी हुआ। सरकार ने एनसीईआरटी को कहा कि वह प्रोफेसर यशपाल की अध्यक्षता में 1992-93 में जारी दस्तावेज 'बिना बोझ के शिक्षा' की रोशनी में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की समीक्षा करे और उसका नवीकरण करे। इसके तुरंत बाद अखबारों में लेख लिखे जाने लगे। जिनमें यह कहा गया कि देखिए सरकार बदली और फिर से पाठ्यचर्या बदल रही है और फिर से किताबें भी बदलेंगी। इस पूरे शोरगुल में जो चीज छिप गई वह यह कि इस देश में एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति का दस्तावेज है जो 1986 में लागू हुआ था, जो स्पष्ट रूप से यह कहता है कि हर पांचवें वर्ष में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के हरेक बिन्दु की पूरी तरह से समीक्षा की जाएगी।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या राष्ट्रीय शिक्षा नीति का एक बिन्दु मात्र है। इस तरह राष्ट्रीय शिक्षा नीति, जो कि संसद के द्वारा स्वीकृत है, अगर आप उसकी बात मानें तो यह बाध्यता केन्द्र सरकार की है या शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाली सारी संस्थाओं की है कि वे अनिवार्य रूप से हर पांचवें वर्ष उस राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा का कार्य शुरू करें। और यह संभवतः इस कारण किया गया है कि हम यह मानकर चलते हैं कि शिक्षा के मानक, शिक्षा के मानदण्ड, शिक्षा के मूल्य स्थिर और जड़ नहीं होते हैं। चूंकि दुनिया बदल रही है, परिवर्तन हो रहे हैं और उसमें नई-नई चीजें जुड़ रही हैं इसलिए शिक्षा नीतियां और युक्तियां, जो युक्तियां हम इस्तेमाल करते हैं, शिक्षा की योजना को बनाने में जिन युक्तियों का हम अविष्कार करते हैं, वे बन्द सिरे वाली युक्तियां नहीं होंगी। बंद सिरे वाली नीतियां भी नहीं होंगी और इसलिए उन्हें निरंतर बदलते रहना उनकी नियति है। इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सारी बहस इस बात पर होती रही कि नई सरकार आ गई है और उसने भी वही शुरू कर दिया है। यानी जो दस्तावेज 2000 में लागू हुआ था उसको बदलने का काम शुरू कर दिया। इसलिए यह बदले की कार्यवाही है और यह एक विचारात्मक कार्यवाही है।

मैं यह बहुत संक्षेप में आपके सामने इसलिए रखना चाह रहा हूं क्योंकि मैं इस पूरी बहस को इसके सही परिप्रेक्ष्य में ले जाने का

प्रयास कर रहा हूँ। वह परिप्रेक्ष्य यह है कि हमें दरअसल पाठ्यपुस्तकों पर बात करते समय जिन बिन्दुओं पर ध्यान देना चाहिए वह यह कि पाठ्यपुस्तकों दरअसल स्कूली शिक्षा, खासकर स्कूली शिक्षा, चूंकि मैं विश्वविद्यालय में पढ़ता हूँ अतः मेरे लिए यह भी विचारणीय है कि वे स्कूली शिक्षा और विश्वविद्यालयी शिक्षा में कौनसी भूमिका निभाती हैं ? शिक्षा में पाठ्यपुस्तकों की भूमिका क्या है ? दूसरा बिन्दु यह है कि पाठ्यपुस्तकों से हमारी अपेक्षा क्या है ? हमारी अपेक्षा का अर्थ यहां बैठे हुए जितने लोग हैं जिनके घरों में बच्चे हैं, जो स्कूल जा रहे होंगे या जा चुके होंगे या जाने वाले होंगे और वे लोग जो पढ़ने-पढ़ाने का काम करते हैं और उसमें दिलचस्पी रखते हैं यानी जिनका हित किसी न किसी प्रकार शिक्षा से जुड़ा हुआ है। और अब हम यह मानकर चलते हैं कि हमारे भारतवर्ष में या हमारे समाज में कोई भी ऐसा तबका नहीं है जिसका हित शिक्षा से जुड़ा हुआ न हो। इसलिए जिसका भी हित शिक्षा से जुड़ा हुआ है उसकी अपेक्षा पाठ्यपुस्तक से क्या है ? तीसरा बिन्दु यह कि पाठ्यपुस्तक बनाने की प्रक्रिया क्या है ? और मैं यहां बनाने कह रहा हूँ लिखने नहीं कह रहा हूँ क्योंकि प्रत्येक पाठ्यपुस्तक शुरू से अंत तक लिखी नहीं जाती है, जो भी पाठ्यपुस्तक निर्माण प्रक्रिया में रहा है वह अच्छी तरह से जानता है कि कोई भी पाठ्यपुस्तक शुरू से अंत तक एक योजना के तहत तैयार की जाती है। इसलिए पाठ्यपुस्तक निर्माण की पूरी प्रक्रिया क्या है ? यह एक तीसरा बिन्दु है जिस पर हमें विचार करना है। चौथा यह कि पाठ्यपुस्तक किन-किन दबावों और तनावों से होकर गुजरती है? जब वह अपनी शक्ल लेती है, जिस शक्ल में स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियों और लड़कों के हाथों में जाती है, वह शक्ल किस प्रक्रिया के तहत उसे मिलती है ? उस प्रक्रिया में उसपर कौनसे दबाव पड़ते हैं और वह कितने तनावों से गुजरती है ? क्या यह सारा मामला इतना सरल है जितने सरल रूप से अखबारों और इलेक्ट्रॉनिक चैनलों पर उसे प्रस्तुत किया जाता है ? उन्हें तो इतनी लम्बी प्रक्रिया में जाने की फुर्सत नहीं होती। टेलीविजन को तो खैर और भी फुर्सत नहीं होती क्योंकि 30 सैकिण्ड में एक ऐसी बात का टुकड़ा उसे चाहिए जो पूरी बात का लम्बोलुबाब कर दे। और आप सब जानते हैं कि यह किस्सा 30 सैकिण्ड में बयान नहीं किया जा सकता।

मैं अपनी संक्षिप्त जानकारी और इस पूरी बहस से जुड़े रहने वाले एक व्यक्ति के रूप में इस प्रक्रिया को जिस तरह से समझ पाया हूँ उसे आपके सामने रखने की कोशिश कर रहा हूँ। इसमें से बहुत सारी बातें आप जानते होंगे। और इसलिए संभव है कि कई चीजों को सुनते हुए ऐसा लगे कि ये घिसीपिटी चीजें हैं और कई बातों का दोहराव है लेकिन जैसा कि हमारे मित्र कृष्ण कुमार कहा करते हैं

कि शिक्षा में दोहराव को आप हटा दें तो शिक्षा का काम पूरा नहीं होता। दोहराव शिक्षा का एक अनिवार्य हिस्सा है। इसलिए बहुत सारी चीजें मैं दोहराऊंगा जिन्हें आप जानते हैं, लेकिन ये अपनी बात को कहने में मेरी मदद करेंगी।

यदि आप भारत में पाठ्यपुस्तकों के इतिहास को देखें और आजाद हिन्दुस्तान के बाद पाठ्यपुस्तकों को देखें तो उसमें एक चीज निगाह में रखना जरूरी है, वह यह कि कोई भी देश जो एक लिखित संविधान को आधार बनाता है और जो एक नीति के आधार पर चलता है, उसका हरेक निर्णय और उसके जीवन का हरेक पक्ष कतिपय नीतियों के आधार पर ही चलता है। ऐसा नहीं होता है कि अराजक ढंग से किसी के मन में कुछ आ गया और कोई चीज शुरू हो गई। यह बाध्यता है, भारतीय लोकतंत्र की यह बाध्यता है, कि उसे पहले कुछ नीतियां बनानी हैं और नीति कानून की एक प्रक्रिया है। हमने एक ऐसा लोकतंत्र स्वीकार किया है जो कानून पर आधारित राज्य को मान्यता देता है। इसलिए उसे कानूनी जामा पहनाना है और इसके लिए हमारे पास कुछ निकाय हैं, यानी संसद है और हम कुछ दूसरी संस्थाएं बनाते हैं या विधायिकाओं के अलग-अलग रूप हैं जिनसे होकर वे सारी चीजें गुजरती हैं। उनके बिना उनको मान्यता ही नहीं मिलती है। उनमें सर्वोच्च स्थान हमारी संसद का है। अगर राज्य की बात आप करेंगे तो सर्वोच्च स्थान यहां की विधायिकाओं का है। और विधायिका जिस एक आम निर्णय पर पहुंचती है, यह माना जाता है कि समाज में वही वह मत है और समाज में हम उसका सम्मान करते हैं। हम उससे असहमत हो सकते हैं या हम उसके खिलाफ जा सकते हैं। अपनी बातें कह सकते हैं, लेकिन उसका सम्मान करना, उसे उस वक्त स्वीकार करना हमारी बाध्यता होती है। लोकतंत्र में जीने और लोकतंत्र में रहने का यही तरीका होता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम अपनी बात कहना बंद कर देते हैं। हम अपनी बात कहना जारी रखते हैं क्योंकि लोकतंत्र का एक दूसरा बिन्दु यह है कि कोई भी विचार हमेशा के लिए बहुमत में नहीं रहता है। इसलिए संघर्ष निरंतर चलता रहता है। आप आज अल्पमत में हैं लेकिन आप अपने विचार के इर्दगिर्द बहुमत को लाने की कोशिश करते हैं। जैसे राष्ट्रीय शिक्षा नीति हर पांचवे साल अपने को बदलना चाहती है। भारतीय संसद भी अपने को हर पांचवें साल बदलना चाहती है। क्योंकि विचारों का यह संघर्ष, लोगों को समझाने-बुझाने और अपने पक्ष में लाने की जद्दोजहद निरन्तर चलती रहती है। यही लोकतंत्र की खूबसूरती है। कुछ लोगों को इसमें स्थिरता और स्थायित्व पर खतरा दिखाई पड़ता है लेकिन मुझे लगता है कि लोकतंत्र बिना इस पूरी बहस के, जद्दोजहद के आगे बढ़ नहीं सकता।

पाठ्यपुस्तकों पर बात सबसे पहले आजाद हिन्दुस्तान के पहले सैकेण्डरी शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में, जो मुदालियर साहब की अध्यक्षता में बना, आपको मिलती है जिसमें वे बहुत स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बेहतर यह होगा कि हमारे स्कूल की पढ़ाई सिर्फ एक पाठ्यपुस्तक के आधार पर न की जाए यानी हमारी स्कूल की कक्षाओं में एक से अधिक पाठ्यपुस्तकों, एक कक्षा में एक विषय के रूप में लगाई जा सकें। ध्यान दें कि मुदालियर, आजादी के फौरन बाद यह इच्छा व्यक्त कर रहे थे कि कक्षा में एक पाठ्यपुस्तक की तानाशाही न हो। वह शायद इस बात से भी अवगत थे कि भारत वर्ष में अभी ऐसा करना संभव नहीं होगा। मुदालियर के तकरीबन दो दशक बाद जो आयोग बना, कोठारी आयोग, आप उसमें भी पाठ्यपुस्तकों की चर्चा सुनते हैं जिसमें कोठारी इच्छा व्यक्त करते हैं कि हमारी कक्षाओं में पढ़ाई ऐसी हो जिसमें विद्यार्थियों को यह न बताया जाए कि इस प्रश्न का उत्तर क्या है बल्कि विद्यार्थियों में पाठ्यपुस्तकों के जरिए यह वृत्ति विकसित की जाए कि वे अपना उत्तर स्वयं खोजें। यानी उनका उठने वाला हर अगला कदम एक अनजान जगत में प्रवेश जैसा कदम हो। वह किसी जानी-बूझी दुनिया में प्रवेश कराने जैसा न हो। जाहिर है कि ये अपेक्षाएं बहुत बड़ी थीं। यानी अपनी कक्षा को ऐसा बना देना जिसमें हम विद्यार्थी को इस बात की छूट दें कि वह अपने उत्तर खुद खोजे। इसके लिए बहुत ज्यादा आत्म-विश्वास और बहुत ज्यादा साहस की जरूरत है। हम अगर अपने राष्ट्र राज्य के विकास को देखें, 1947 से लेकर अब तक, तो हमें यह दिखलाई पड़ता है कि 1947 से लेकर 2006 तक की यह यात्रा, अभी हम 2007 में हैं, निरन्तर आत्म-विश्वास से असुरक्षा की यात्रा है। यानी आप एक तरफ पाठ्यपुस्तकों की बहस को रख लें और दूसरी तरफ आप भारतीय राष्ट्र-राज्य को अपने कानूनों में परिवर्तन करके, असाधारण कानूनों को लागू करने की तरफ बढ़ते हुए देखें, जिसमें मैं पोटा, टाडा, इल्लीगल एक्टिविटीज प्रिवेंशन ऐक्ट, आर्म फोर्सज स्पेशल ऐक्ट को भी शामिल करूंगा। यानी एक ऐसा राष्ट्र-राज्य है जिसको निरन्तर ऐसा लग रहा है कि वह उसके पास जो कानून हैं, उनसे उसकी सुरक्षा नहीं हो सकती। उसे असाधारण शक्ति और असाधारण कानूनों की जरूरत है। एक तरफ इन असाधारण कानूनों को लागू होता हुआ देखिए और दूसरी तरफ आप पाठ्यपुस्तक को लेकर राज्य की संस्थाओं के रवैये को देखिए। पाठ्यपुस्तकों को लेकर भी निरन्तर राज्य की असुरक्षा बढ़ती चली जाती है। जब मैं राज्य कह रहा हूँ तो आप इसको प्रांतों के सिलसिले में भी समझिए और केन्द्र के सिलसिले में भी। राज्य ऐसा समझता है कि बिना कक्षा पर और बिना स्कूल पर उसके पूरे नियंत्रण के शायद राष्ट्र-राज्य की वह कल्पना लागू नहीं हो सकती या साकार नहीं हो सकती जिसको वह नागरिकों में भरना चाहता

है। समाजशास्त्र पढ़ने और समाजशास्त्र पढ़ाने वाले और राजनीति विज्ञान से परिचित लोग जानते हैं कि राष्ट्र कोई यथार्थ चीज नहीं है। वह एक कल्पना है और यदि उस कल्पना को आप रोज नहीं दोहराते रहेंगे, रोज लोगों के दिमागों में वह कल्पना दोहराई नहीं जाएगी तो वह यथार्थ नहीं बनेगी। इसलिए कहा जाता है कि राष्ट्र एक रोज चलने वाला जनमत संग्रह है। आपको रोज ये जनमत संग्रह करना पड़ता है और इसके लिए राज्य को जो सबसे बढ़िया जगह मिलती है उसके स्कूल हैं, जहां वह अपने राज्य-राष्ट्र की इस कल्पना को रोज-रोज, रोज-रोज पुनरुत्पादित करता रहता है। और ऐसा करने के लिए जो सबसे सुरक्षित साधन उसके पास है वह पाठ्यपुस्तकें हैं, जिन्हें बदला नहीं जा सकता। शिक्षकों पर, जिनको वह बहाल करता है, उसका सीधा नियंत्रण नहीं हो सकता। आप शिक्षक-प्रशिक्षण के कार्यक्रम आयोजित कर सकते हैं, आप पाठ्यक्रम बना सकते हैं लेकिन वह शिक्षक कक्षा में क्या करने वाला है या क्या करने वाली है, इस पर आपका कोई बस नहीं है। जिस पर आपका बस है वह पाठ्यपुस्तक है जिसमें मूखपृष्ठ से और अंतिम पृष्ठ तक क्या छपना है, उसे आप तय कर सकते हैं। इसके लिए आप नीतियां बना सकते हैं और इसमें एक-एक हर्फ, एक-एक लफ्ज की जगह आप तय कर सकते हैं। इसलिए राष्ट्र-राज्य की शिक्षा संस्थाओं का सबसे ज्यादा ध्यान अगर किसी एक चीज पर रहा है तो वह है पाठ्यपुस्तक या उनकी किताब ग्रस्तता, पाठ्यपुस्तक ग्रस्तता इतनी ज्यादा रही है कि कई बार उसे देखकर हंसी आती है। लेकिन वह इसलिए है कि वह जानता है कि यह एकमात्र साधन है जिसके लिए राष्ट्र-राज्य की उस कल्पना को ठीक तरीके से पहुंचाया जा सकता है जो कल्पना आधिकारिक कल्पना है या राजकीय कल्पना है। और इस कल्पना को वे लागू करना चाहते हैं और इसी के तहत पाठ्यपुस्तकों की योजना मोटा-मोटी तौर पर बनाई जाती है। लेकिन यह इतना सीधा और सरल मामला नहीं है। क्योंकि पाठ्यपुस्तकों को बनाने की प्रक्रिया में शिक्षक, शिक्षा विभाग के पदाधिकारी, विश्वविद्यालयों के अकादमिक और दूसरे तमाम लोग शामिल होते हैं। और फिर विचारधाराओं की टकराहटें शुरू होती हैं। मैं यह कहना चाहूंगा और इस पर जोर देना चाहूंगा कि राज्य-राष्ट्र की, जो एक आधिकारिक तस्वीर है उस तस्वीर को छात्रों के दिमाग में पूरी तरह से नक्श कर देने के लिए पाठ्यपुस्तकों का इस्तेमाल करने में किसी भी सरकार को कभी भी गुरेज नहीं रहा है।

भारत वर्ष के लिए इत्तफाक यह रहा है कि भारत की आजादी के बाद से लेकर चालीस साल तक यहां एक ऐसी पार्टी शासन में रही जिसका कोई विचाराधारात्मक एजेण्डा नहीं था। मैं स्पष्ट तौर पर कहना चाहूँ, वह कांग्रेस पार्टी है जिसको मैं

विचारधारात्मक पार्टी नहीं कहता। वह उस तरह विचारधारात्मक पार्टी नहीं है जिस तरह भारतीय जनता पार्टी है या भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवादी है। इसलिए एक तरह की आजादी या एक तरह की अराजकता या एक तरह की लापरवाही और एक तरह की उदासीनता भी आप कांग्रेस पार्टी के शासन काल में देखेंगे। लेकिन कांग्रेस शासित काल में भी जो पाठ्यपुस्तकें बन रही हैं, आप उसके प्रभुत्वशाली स्वर को देखें। बहुत सारे मित्रों ने कई सारे राज्यों की पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन और उनका अलग-अलग समय में विश्लेषण करके बतलाया है। सबसे ताजा विश्लेषण निरन्तर नाम की संस्था ने किया है। उसने पांच राज्यों की पाठ्यपुस्तकों का, अलग-अलग विषयों की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण किया है। यह संस्था दिल्ली की है। इससे जो बात उभरकर आती है वह यह है और उसे मैं पुनः सूत्र रूप में रखना चाहूंगा, बाद में इस पर चर्चा हो सकती है, वह यह कि आमतौर पर यह पाया जाता है कि भारत के लगभग सभी राज्यों की पाठ्यपुस्तकों में जिस एक राष्ट्र की छवि उभरती है वह एक राष्ट्र प्रमुखतः हिन्दू पुरुष और सैन्यवादी राष्ट्र है। इस राष्ट्र को बहुत ज्यादा चिन्ता अपने नागरिकों में शक्ति भरने की है। एक शक्तिशाली राष्ट्र बनने की चिन्ता से ग्रस्त मस्तिष्क इन पाठ्यपुस्तकों को तैयार कर रहा है। यह कहने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं है कि यह मस्तिष्क प्राथमिकतः और अन्ततः एक हिन्दू पुरुष मस्तिष्क है या पुरुषवादी मस्तिष्क है। यह कुछ विवादास्पद हो सकता है लेकिन एक के बाद एक यदि आप विज्ञान की पुस्तकों को भी उठा कर देखें, अगर आप समाज विज्ञान की पाठ्यपुस्तक को उठाकर देखें, अगर आप शारीरिक स्वास्थ्य की पाठ्यपुस्तक को उठाकर देखें और अभी जो विषय सबसे नया और विवादास्पद रहा है जिसको छूते लोग डरते थे यानी यौन शिक्षा के पाठ्यक्रम को भी उठाकर देखें तो आप देखेंगे कि इन सारे पाठ्यक्रमों और इन सारी पाठ्यपुस्तकों का उद्देश्य दरअसल एक ऐसे राष्ट्र की छवि को निर्मित करना, उसे स्थापित करना और उसे सम्मान प्रदान करना है जो हिन्दू पुरुषवादी राष्ट्र है। इसमें जो दूसरी चीज जुड़ जाती है वह यह है और जिसको मैं कहना चाहूंगा कि यह जो हिन्दू है यह हिन्दू अपने आप अपना विस्तार करना चाहता है। इसकी इच्छा है कि यह अपना विस्तार करे और अपने अन्दर समाज के बहुत सारे तत्वों को समाहित करे। लेकिन ऐसा करने में वह प्रायः अक्षम होता है और जो छवि बनती है वह छवि अन्ततः एक उच्चवर्णीय हिन्दू पुरुष की छवि बनती है। जिस रूप में यह राष्ट्र इन पुस्तकों में उभरता हुआ दिखाई देता है।

ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ ? अगर आप पाठ्यपुस्तकें बनाने वाली समितियों पर गौर करें उनकी सदस्यता, उनकी संरचना पर

ध्यान दें तो आपको समाज के बहुलांश का प्रतिनिधित्व उनमें नहीं मिलेगा। यह पुनः हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य रहा है कि अगर आप एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तक निर्माण योजना देखना चाहें तो आपको कुछ पता नहीं चल पाएगा। एनसीईआरटी में चालीस साल से किताबें बन रही हैं लेकिन आप उनसे पूछिए कि 1970 में जो फलां किताब बनी वह किस बहस से निकली ? तो इनके पास इस बहस का कोई रिकॉर्ड नहीं है। क्या-क्या बात हुई ? आपने एक पाठ चुना, आपने प्रेमचन्द का पाठ फलां साल में चुना, उसका कारण क्या था ? आपके पास कोई रिकॉर्ड नहीं है। यानी आप लगातार किताबें बनाते चले जा रहे हैं और जिनको बनाने में, जैसा मैंने कहा कि कोई फरमान नहीं जारी होता है, समितियां बनती हैं, समितियां बहस करती हैं और किताब बनती हैं। वे बहसें क्या थीं ? उसका कोई रिकॉर्ड हमारे पास उपलब्ध नहीं है। इसलिए यदि शिक्षा विभाग पाठ्यपुस्तकों को लेकर कोई शोध कराना चाहे तो उनको बहुत दिक्कत आने वाली है। क्योंकि उसके पास उन जीवित बच गए लोगों के सीधे इन्टरव्यू और उनकी याददाश्त पर भरोसा करने के अलावा कोई चारा नहीं है। कोई दस्तावेज आपके पास नहीं हैं। आप किन प्रक्रियाओं को लेकर इस पाठ को चुनने में एकमत हुए, यह जानने का हमारे पास कोई रास्ता नहीं है। न राज्यों में, न केन्द्र में, न एनसीईआरटी में। यह एक इतनी बड़ी कमी है जिस कमी का अहसास हमें तब होता है जब हम पाठ्यपुस्तक पर गंभीरता से बात करना चाहते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप ऐसा न मानें कि अगर भारतीय जनता पार्टी की सरकार कहीं पर है तो वहां जो पाठ्यपुस्तक बन रही हैं वह भारतीय जनता पार्टी की इच्छा के अनुसार बन रही हैं, ऐसा इतने सीधे ढंग से नहीं होता। जैसा मैंने कहा कि जिस प्रकार का हमारा ढांचा बना हुआ है उसमें यह संभव नहीं है कि आप शिक्षा संस्थाओं को एक ही प्रकार की विचारधारा के लोगों से भर दें। यह संभव नहीं है। और ऐसा हम इसलिए देख पा रहे हैं कि आप यहां बैठे हुए हैं, राजस्थान में, इस कमरे में बैठे हुए हैं और आप भारतीय जनता पार्टी की आलोचना करते हुए बात कर सकते हैं। ऐसी तमाम जगहें इस लोकतंत्र में बची हुई हैं। और वे जगहें इन पाठ्यपुस्तक समितियों में आपको दिखलाई पड़ती हैं जो विभिन्न प्रकार के शिक्षकों, शिक्षिकाओं और जैसा मैंने कहा कि विभिन्न प्रकार के लोगों से मिलकर बनती हैं। फिर उनकी बहसें क्या हैं ? यह बहसें हमें पता नहीं हैं। और इसलिए हमें बहुत कुछ करके पाठ्यपुस्तकों के बारे में कोई फैसला करना है या अपनी कोई राय बनानी है तो इसके अलावा कोई उपाय नहीं है कि हमारे पास छपी हुई किताबें हैं, हम उनके पाठ देखेंगे, हम उनके अभ्यास प्रश्न देखेंगे और उनका विश्लेषण करते हुए हम एक नतीजे तक

पहुँचें। यानी हम पाठ्य वस्तु का विश्लेषण भर कर सकते हैं।

दूसरा, जो ज्यादा से ज्यादा हम कर सकते हैं कि इस पाठ्यपुस्तक का प्रभाव जिन लोगों पर पड़ रहा है, जिस तरह से यह ग्रहण की जा रही है और जिस तरह से इनका इस्तेमाल किया जा रहा है उसकी जांच करें। यानी आप शोध की कोई प्रक्रिया अपनाना चाहें तो आप शायद यह देखना चाहेंगे कि कक्षाओं में पाठ्यपुस्तक किस तरह से पढ़ाई जा रही है ? शिक्षक पाठ्यपुस्तक का किस तरह इस्तेमाल कर रहे हैं ? छात्र पाठ्यपुस्तक से किस प्रकार का संबंध बना रहे हैं ? पाठ्यपुस्तक उनके लिए कितनी उपयोगी हैं ? शायद इन चीजों को वहाँ पर उस कक्षा में बैठकर, समय गुजार कर इन तमाम चीजों को नोट करना चाहेंगे और फिर आपके लिए यह भी जरूरी होगा कि आप उत्तर पुस्तिकाओं को भी देखें। क्योंकि आप यह देखना चाहेंगे कि जो प्रश्न अन्ततः दिए जा रहे हैं, जिनसे उस विद्यार्थी का जीवन निर्धारित हो रहा है वे क्या हैं ? जो उत्तर वह दे रहा है उस पर उसको अंक मिलते हैं। तो उत्तर पुस्तिकाओं और पाठ्यपुस्तक का क्या रिश्ता है या नहीं है या पाठ्यपुस्तक उसके लिए बिल्कुल ही बेकार हैं ? क्योंकि पाठ्यपुस्तक के साथ उसके छपने और बाजार में आने से पहले जो दूसरी चीज बाजार में आ जाती है, जिसको कुंजी कहते हैं। यानी आपने एक ताला लगाया और उसकी कुंजी हाजिर है। आपने ताला लगाया भी नहीं और कुंजी हाजिर है। कुंजी बनाने वाले ज्यादा तेज हैं इसलिए कई स्कूलों में तो पाठ्यपुस्तकों की जगह कुंजी ही पढ़ाई जाती है। इससे शिक्षकों का काम भी आसान हो जाता है। परीक्षा लेने वालों का काम आसान हो जाता है। क्योंकि कुंजियां उनको बताती हैं कि किस तरह परीक्षा लेनी चाहिए। लेकिन जब मैं यह कह रहा हूँ तो मैं उस गंभीरता को कम नहीं करना चाहता, जो पाठ्यपुस्तकों को लेकर हर किसी के दिमाग में बनी रहती है और जिसके चलते पाठ्यपुस्तकों को लेकर इतना बावेल मचता है। अगर पाठ्यपुस्तकें किसी काम की नहीं रहतीं, अगर वह नितान्त अप्रसांगिक रहतीं, अगर कुंजियों से ही काम चल गया होता तो फिर पाठ्यपुस्तकों को लेकर इतना हंगामा नहीं होता।

तो फिर हंगामा होता क्यों है ? इसकी वजह क्या है ? हाल में जब जापान ने अपना पाठ्यक्रम बदलना शुरू किया और यह कहा कि अब हमें अपने स्कूलों के लिए ऐसा पाठ्यक्रम बनाना है जिससे देशभक्ति की भावना छात्रों में ज्यादा भरी जा सके तो वहाँ के अनेक शिक्षाविदों ने इसका विरोध करना शुरू किया। लेकिन इस विरोध के बावजूद जापान का पाठ्यक्रम अब इस तरीके से बदला जा रहा है कि वहाँ देशभक्ति की भावना और दृढ़ की जा सके। और इसका निहितार्थ बहुत स्पष्ट है यानी कि एक ऐसी देशभक्ति की

भावना का प्रसार जो सैन्यवादी देशभक्ति होगी। जापान के समझदार शिक्षाविद इसका विरोध कर रहे हैं। दूसरी बहस जिससे आप लोग वाकिफ होंगे वह ब्रिटेन में चल रही है। क्योंकि ब्रिटेन का शिक्षा जगत और स्कूली शिक्षा जगत एक साहसी प्रयोग करने जा रहा है और वह प्रयोग इतिहास के क्षेत्र में है जिसमें वह अपने छात्रों को एम्पायर यानी साम्राज्य का इतिहास पढ़ाना चाहते हैं। और साम्राज्य का वह इतिहास पढ़ाना चाहते हैं जो शासित हुए या जिन्हें उपनिवेश बनाया गया उनकी दृष्टि से। इसलिए ब्रिटेन में भी एक हंगामा, एक बावेल मचा हुआ है कि आप किस तरह की पाठ्यपुस्तकें लिखेंगे और किस तरह का पाठ्यक्रम बनाएंगे और इससे ब्रिटिश साम्राज्य का गौरव और ब्रिटिश सभ्यता या यूरोपीय सभ्यता का जो गौरव है उस पर आंच तो नहीं आएगी? इसलिए बहस सिर्फ हिन्दुस्तान की है ऐसा नहीं है। हिन्दुस्तान के बाहर आप जिस देश में भी जाएंगे यह चिन्ता आपको दिखलाई पड़ेगी। लेकिन यहाँ अक्सर हम यह मानकर चलते हैं जैसा मैंने कहा कि आमतौर पर पाठ्यपुस्तक राष्ट्र-राज्य की छवि को लोगों के दिमाग में नक्श करने का एक जरिया है।

दूसरा है कि पाठ्यपुस्तक विचारधाराओं को पहुँचाने का एक साधन है। यानी आप पाठ्यपुस्तक के जरिए करते क्या हैं ? आप अपनी बात पहुँचाते हैं या अपनी विचारधारा पहुँचाते हैं। यह कार्यक्रम शिक्षा विभाग में और दिगन्तर के साथ हो रहा है तो शायद दिगन्तर भी इस बात को अच्छी तरह से जानता है और शिक्षा विभाग के लोग भी इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि पाठ्यपुस्तक का कक्षा में इस्तेमाल एक शिक्षाशास्त्रीय उपकरण से ज्यादा कुछ नहीं है। यानी वह इस तरह की कोई किताब नहीं है जैसे प्रेमचन्द की गोदान है या जिस तरह की कोई किताब राजनीतिशास्त्री लिखे। जैसे ही हम कहते हैं पाठ्यपुस्तक, वैसे ही यह मानकर चलते हैं कि वह कक्षा में इस्तेमाल किए जाने वाले एक शिक्षाशास्त्रीय उपकरण से ज्यादा कुछ नहीं है। और इसलिए उस उपकरण को कैसे बनाना है यह शिक्षाशास्त्री के लिए ज्यादा महत्त्व का होता है। वह कक्षा में उस उपकरण का उपयोग कैसे करेगा, यह उसके लिए महत्त्वपूर्ण है। और जब वह इस पर सोचता है तब उसका ध्यान सिर्फ अन्तर्वस्तु पर ही नहीं रहता है। यानी तब उसका ध्यान इस बात पर नहीं रहेगा कि आप सावरकर को पढ़ाएंगे कि नहीं या आप महात्मा गांधी को पढ़ा रहे हैं कि नहीं या आप जवाहर लाल नेहरू का बड़ा पाठ ले रहे हैं कि नहीं। यह उसकी चिन्ता का विषय नहीं है। उसकी चिन्ता का विषय शायद यह होगा कि अगर हम सावरकर को पढ़ा रहे हैं तो किस तरह पढ़ा रहे हैं। अगर हम सावरकर के बारे में एक पाठ दे रहे हैं तो हम सावरकर के बारे में जानने के विद्यार्थियों

को कौन- कौनसे प्रवेश बिंदु दे रहे हैं। हिन्दुस्तान की आजादी के आन्दोलन में जो विचारात्मक बहसें हो रही हैं इसके माध्यम से आप शायद उनमें कुछ दरवाजे खोलना चाहते हैं, कुछ खिड़कियां खोलना चाहते हैं। और जिस तरह एक बहुत वैध पाठ महात्मा गांधी पर हो सकता है उसी तरह एक बहुत वैध और उचित पाठ राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या मुस्लिम लीग पर हो सकता है। मुझे नहीं लगता है कि पाठों को लेकर कोई बहस हो सकती है। इसलिए किसी को जब भी मैं यह कहते हुए देखता हूँ कि देखिए साहब, फलां सरकार आई और उसने सावरकर पर पाठ लगा दिया तो मुझे यह गैर-शिक्षाशास्त्रीय तर्क लगता है।

सावरकर के पाठ को लगा दिया जाना अपने आप में कोई गलत बात नहीं होगी या महात्मा गांधी पर पाठ को लगा दिया जाना कोई अच्छी बात नहीं होगी। उसी तरह जैसे मैंने पहले राजस्थान की किताबों पर छः-सात महीने पहले बहस पढ़ी कि प्रेमचन्द को हटा दिया गया है। मैं कहता हूँ आप प्रेमचन्द को पूरा हटा दीजिए लेकिन इस सवाल का उत्तर दीजिए जब आप भाषा शिक्षण की बात कर रहे हैं तो आप कक्षा आठ में भाषा शिक्षण की कौनसी युक्तियां अपना रहे हैं ? आपकी पाठ्यपुस्तकें उन युक्तियों से उभर रहीं हैं या नहीं ? मेरे लिए यह चिन्ता का विषय है। आप प्रेमचन्द का पाठ हटा दें, आप किसी का भी पाठ लगा लें। मैं तो यहां तक कहने को तैयार हूँ कि आप एक बहुत घटिया रचना भी लगा सकते हैं, एक बहुत ही घटिया रचना। लेकिन उस बहुत घटिया रचना को लगाने का शिक्षाशास्त्रीय उद्देश्य आपकी पाठ्यपुस्तक में स्पष्ट होना चाहिए। आप वह कर रहे हैं या नहीं यह चिन्ता और बहस का विषय होना चाहिए। लेकिन अक्सर दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान में बहस का विषय यह नहीं रहता। क्योंकि सबकी दृष्टि अन्तर्वस्तुग्रस्त है। कौनसी वस्तु हैं, कौनसी छवियां हैं, कौनसे नेता हैं, कौनसे लोग हैं, कौनसी घटनाएं हैं, जिन घटनाओं पर ध्यान दिया गया है और किनको पाठ्यपुस्तकों में जगह दी गई है, यही पाठ्यपुस्तकों की बहस का विषय बनता है। हमारा ज्यादा ध्यान इन्हीं का विश्लेषण करने पर लगा रहता है और इसलिए अक्सर जो बहस होती रहती है उसमें मैंने आज तक यह नहीं देखा, एकाध को छोड़ दें, यानी गुजरात की किताब पर तीन-चार साल पहले मैंने लेख देखा तो उसमें यह पाया कि उसमें अभ्यासों के, प्रश्नों के भी कुछ उदाहरण दिए गए थे। लेकिन इसलिए कि वे बहुत स्पष्ट थे। मैंने आज तक नहीं देखा कि अभ्यासों का विश्लेषण पाठ्यपुस्तकों पर लिखे गए इस प्रकार की किसी भी आलोचनात्मक लेख में हों। वे सिर्फ यही कहते हैं कि सावरकर पर एक पाठ दे दिया गया है या नेहरू का पाठ हटा दिया है या वह पाठ लगा दिया गया है और यह उचित नहीं है। और इससे पूरी बात बनती नहीं है। और

यह इस कारण हुआ है, क्योंकि हम यह मानते हैं कि पाठ्यपुस्तकों विचारों का एक पुंज हैं जिसको हम बने बनाए क्लास रूम में दे रहे हैं। दूसरा हम यह भी मानते हैं कि इस विषय को हम जिस पाठ्यपुस्तक के जरिए पढ़ा रहे हैं, उसके सारे प्रश्न भी इसमें हैं और उसके सारे सही उत्तर भी इसमें दिए गए हैं।

इस बहस पर विचार करते समय जब मैं विशेषज्ञों को पढ़ रहा था तो इंग्लैण्ड के एक शिक्षा संबंधी दस्तावेज पर मेरी नजर पड़ी जो 1960 के आसपास का दस्तावेज है। और वह दस्तावेज यह कहता है, और मैं उसे आपके सामने कहने की कोशिश करूंगा, यह इंग्लैण्ड का शिक्षा का दस्तावेज कह रहा है, और देखिए वह किस तरह हमारे यहां लागू होती है, “हमारी कक्षाओं में पाठ्यपुस्तकें जो करती हैं वह यह कि वह छात्र को यह बताती हैं कि उत्तर केवल एक सही होता है और वह कहीं लिखा हुआ है, कहीं रखा हुआ है। उनका काम उस रखे हुए उत्तर को या लिखे हुए उत्तर को उठा लेना है और उसको ज्यों का त्यों रख देना है। इसका मतलब कि छात्र अपना उत्तर नहीं खोज सकते हैं। और इसकी वजह से न तो छात्रों में अपनी भाषा का निर्माण होता है, न अपनी चिन्तन शक्ति का निर्माण होता है और न अपनी आलोचनात्मक शक्ति का निर्माण होता है।” उनको इसकी इजाजत नहीं है कि वे उस उत्तर के अलावा, जो उस पाठ्यपुस्तक के पाठ विशेष में पहले से ही लिखा हुआ है, किसी और उत्तर की कल्पना कर सकें। सिर्फ यही नहीं, उनको सही उत्तर उसी प्रक्रिया में लिखना है जिस प्रक्रिया में वह उत्तर उस पाठ में लिखा हुआ है क्योंकि उनमें से जरा-सा भी कोई इधर-उधर हटने की कोशिश करता है तो उसके अंक कटने का खतरा है। यह बाध्यता जितनी छात्रों में है, उतनी ही उन्हें अंक देने वाले या अंक काट लेने वाले शिक्षकों पर भी शायद उतनी ही लागू होती है। क्योंकि उन्हें भी यह समझाया गया है और उन्होंने खुद अपना विकास इस ढंग से किया है कि उनका काम कक्षाओं में डाकिए से अधिक कुछ नहीं है। क्योंकि ज्ञान कहीं निर्मित हो रहा है जो कि एक राजकीय ज्ञान है, आधिकारिक ज्ञान है, उन्हें राज्य शिक्षण प्रशिक्षण संस्थाओं ने बताया है कि इस राजकीय ज्ञान को ईमानदारी से कक्षा में छात्र नामक पात्र में डाल देना ही उनका काम है। इसलिए वे एक ईमानदार डाकिए की भूमिका का निर्वाह करें। अनेक शिक्षक ऐसा ईमानदार डाकिया बनना चाहते हैं और वे करते हैं। उस हिसाब से वे अंक देते हैं या काटते हैं और यह आदत जो पीढ़ी दर पीढ़ी हमारे छात्रों में और हमारे शिक्षा जगत में स्थापित हो गई है। वह यह कि ज्ञान कहीं और बनता है और वह पाठ्यपुस्तकों में दिया रहता है। उस ज्ञान को उसी रूप में पुनरुत्पादित करना उस शिक्षक और शिक्षार्थी का उद्देश्य है, उससे ज्यादा उसका कोई उद्देश्य नहीं है। और इसीलिए जो प्रश्न बने हुए होते हैं यदि आप उन प्रश्नों

की प्रकृति को देखें तो आप पाएंगे कि प्रश्न पाठ से बाहर जाने का खतरा कभी मोल नहीं लेते हैं। क्योंकि जैसे ही वे जो पाठ ऊपर दिया हुआ है उससे बाहर की दिशा निकालेंगे तो वो विद्यार्थी को किसी और किताब की ओर जाने के लिए, किसी और से बातचीत करने के लिए प्रेरित करेंगे जो शायद बहुत सुरक्षित तरीका नहीं है। उससे खतरा यह है कि वह उनसे कुछ उन बातों के संपर्क में आ सकता है जिन बातों से बचाने की कोशिश ये किताबें कर रही हैं। लेकिन जब मैं इतना कह रहा हूँ तो मैं अपनी बात के दूसरे स्तर पर भी आना चाहता हूँ जिसमें मैं इस बात की चर्चा करना चाहता हूँ कि पाठ्यपुस्तकें जब बनती हैं तो वो कौनसे दबाव होते हैं और किन तनावों से गुजरती हैं ?

इसका एक उदाहरण अभी हाल में मिला जब सबसे ज्यादा अहिंसक लगने वाले क्षेत्र यानी भाषा की किताबों को लेकर हंगामा शुरू हुआ। इस बार इतिहास की किताबों को लेकर पहले हंगामा शुरू नहीं हुआ। हंगामा पहले शुरू हुआ भाषा को लेकर। मैं थोड़ी उस पर चर्चा करना चाहता हूँ क्योंकि उससे आपको उस दबाव का अंदाज मिल सकेगा जो दबाव किताबों पर पड़ता रहता है। यह हंगामा संसद में शुरू हुआ और मैं सारी पार्टियों का नाम लूंगा जिससे आपको स्थिति की जटिलता का पता लग सके। इसमें भारतीय जनता पार्टी, समाजवादी पार्टी, जनता दल यूनाइटेड, कांग्रेस पार्टी और तुरां ये कि इसमें भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवादी के सदस्य भी शामिल हुए। पहली बार, मुझे लगता है पहली बार, संसद में विचारधारात्मक एकता का नजारा दिखाई पड़ा जो किताबों के खिलाफ था। क्या था ? सांसदों ने कहना शुरू किया कि देखिए, यह भाषा की दूसरी कक्षा की किताब है या तीसरी कक्षा की इसमें लड़की के लिए लिखा गया है 'छोकरी' जो कि बहुत अपमानजनक शब्द है। मैं अभी कुछ दिनों पहले गुजरात में था और वहां एक लड़की बाकी लड़कों को बुला रही थी और वो कह रही थी कि 'सारे छोकराओ ने' इधर बुलाओ और 'सारी छोकरीयो ने' इधर बुलाओ तो मुझे लगा कि शायद सांसद महोदय इस संबोधन को सुनते ही नहीं हैं। लेकिन उनकी गहरी आपत्ति इसमें थी कि यह अपमानजनक संबोधन हिंदी की किताब में लिखा हुआ है, लड़की के लिए छोकरी। उसके बाद दूसरी बहस उनकी प्रेमचन्द की कहानी 'दूध का दाम' को लेकर थी। उस पर आपत्ति यह थी जो आपत्ति सुव्यवस्थित ढंग से भारतीय जनता पार्टी के सांसद ने उठाई लेकिन जिस पर बाकी लोग सहमत थे, सारे लोग सहमत थे। वो आपत्ति यह थी कि 'दूध के दाम' कहानी में प्रेमचन्द ने 'चमार' शब्द का प्रयोग किया है जो कि असंवैधानिक है और इस शब्द का इस्तेमाल किताब में नहीं किया जा सकता है। यहां जिस

अवधारणात्मक भ्रम में वे थे वह इसके चलते हुआ कि नीति संबंधी दस्तावेज और पाठ्यपुस्तक के बीच जो फर्क होता है उस फर्क को वे पूरी तरह से भूल गए। लेकिन उसको आप जाने दीजिए। उसकी हम अपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि जिस तरह टेलीविजन चैनल हड़बड़ी में रहते हैं उसी तरह सांसद भी हड़बड़ी में रहते हैं। तो उन्होंने दूसरी आपत्ति यह की कि 'दूध का दाम' कहानी में इस शब्द का इस्तेमाल किया है और इससे उस जाति के लोगों का अपमान हुआ है। और फिर उन्होंने धूमिल की कविता पर आपत्ति जाहिर की। और फौरन पाण्डे बेचन शर्मा 'उग्र' के आत्मकथांश पर आपत्ति जाहिर की और वह आपत्ति तो और भी दिलचस्प थी क्योंकि उस आपत्ति के पक्ष में बयान देते हुए सुषमा स्वराज जी ने अर्जुन सिंह जी को कहा, वह बहुत शिक्षाप्रद है। सुषमा स्वराज जी कह रही हैं कि माननीय अर्जुन सिंह जी आप तो ब्राह्मणों का इतना आदर करते हैं। मैं अभी आप के घर हाल ही में एक यज्ञ में गई थी तो मैंने वहां देखा कि आप एक ब्राह्मण के पांव छू रहे थे, आपके शिक्षामंत्रीत्व में एक ऐसी पुस्तक निकले जिसमें एक ऐसा पाठ हो, पांडे बेचन शर्मा 'उग्र' का, जो ब्राह्मणों की खिल्ली उड़ाए ! यह संभव ही कैसे है ? पांडे बेचन शर्मा 'उग्र' खुद ब्राह्मण थे वो अपनी आत्मकथा लिख रहे हैं उस आत्मकथा का एक हिस्सा है जिसमें वे स्वयं अपनी जाति की खिल्ली उड़ा रहे हैं, इस पर संसद में जो बहस हो रही है वह इस स्तर की है, जिस पर इस किताब में आपत्ति इन शब्दों में जाहिर की जा रही है और अर्जुन सिंह से उनकी ब्राह्मण के प्रति भक्ति की दुहाई देकर ये कहा जा रहा है कि आप कुछ तो सोचिए, कुछ तो ख्याल कीजिए, कुछ तो लिहाज कीजिए ! खैर ! और उस पर सीपीएम के सांसद ने उठकर कहा कि तुरंत कार्यवाही की जानी चाहिए। इन किताबों को बनाने वालों के खिलाफ तुरंत कार्यवाही की जानी चाहिए। और एक समिति बनी और समिति ने उन सबको तलब किया और लंबी-लंबी सुनवाई हुई। उसका नतीजा जो निकला वह क्या है, यह मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। वह नतीजा यह है कि धूमिल की वह कविता हटा दी गई है। उसकी जगह दूसरी कविता लाई जा रही है। पांडे बेचन शर्मा 'उग्र' का आत्मकथांश हटा दिया गया है। उसकी जगह एक दूसरा अंश उन्हीं का लाया जा रहा है। मुंशी प्रेमचन्द की कहानी हटा दी गई है और उसकी जगह दूसरी कहानी लाई जा रही है। यह दरअसल वे दबाव हैं जो एक पाठ्यपुस्तक झेलती है।

अब आप इस पर आपत्ति कर सकते हैं या मैं इस पर आपत्ति कर सकता हूँ कि यह तब्दीलियां नहीं होनी चाहिए। लेकिन आप ये ख्याल रखें कि ये तब्दीलियां आपकी सबसे ज्यादा प्रतिनिधि संस्था संसद के दबाव के चलते हो रही हैं और उसमें भी सारे विचारों के

प्रतिनिधियों के दबावों के चलते हो रही हैं। आप उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते और पाठ्यपुस्तकें इस दबाव से स्वतंत्र रहकर कक्षा में एक ऐसा शून्य निर्मित नहीं कर सकती हैं जिस शून्य में से आप इन सारे राजनैतिक स्वयं को खींचकर निकाल दें और कक्षा में एक ऐसा शिक्षा संबंधी शुद्ध वातावरण बनाएं जिसमें ये कीड़े-पतंगे न आते हों, ऐसा आप कर नहीं सकते, जिसके कीटाणु कक्षा में प्रवेश न करें। इसलिए इन दबावों की उपेक्षा पाठ्यपुस्तक नहीं कर सकती। जाहिर है आपको आगे एनसीईआरटी की जो किताबें मिलेंगी, आप देखेंगे कि उन किताबों में से ये पाठ हटा दिए गए हैं। यह दबाव का एक नमूना है।

दूसरा, अभी मैं कुछ दिन पहले उदयपुर में था जहां हमारे दिगन्तर और विद्याभवन के मित्र छत्तीसगढ़ के लोगों के साथ मिलकर पाठ्यपुस्तक बनाने की कोशिश कर रहे हैं। वहां हिन्दी की चौथी कक्षा की पाठ्यपुस्तक पर बहस हो रही थी। जाहिर है, बहुत काम हुआ था और उसमें से कुछ पाठ चुने गए थे जिन पर बहस चल रही थी। उनमें एक पाठ तुलसी के पौधे से संबंधित था और मैंने उसमें यह जानने की कोशिश की थी कि इसमें यह पाठ तुलसी पर क्यों रखा गया है? तो पहले तर्क यह दिया गया कि यह पौधा सबसे ज्यादा लोकप्रिय है और इसका तर्क यह दिया गया कि पर्यावरण प्रेम को लेकर एक पाठ देना था इसलिए वो पाठ चुना गया है। लेकिन जब बहस थोड़ी और गहराई में गई और पाठ का पाठ पूरी तरह से किया गया तो यह बहस की गई कि छत्तीसगढ़ किन लोगों का राज्य है? किन लोगों का और किस तर्क से बना है? पता चला कि वह तो आदिवासी बहुलता के तर्क से बना है। आदिवासियों में सबसे ज्यादा प्रतिष्ठित क्या यही एक पौधा है? नहीं है। तो फिर यह सवाल उठा कि किस तर्क से आपने छत्तीसगढ़ की किताब में इस पौधे को देने की कोशिश की। बहुत स्पष्ट था कि आप उस पाठ के जरिए तुलसी की नहीं हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयास कर रहे थे। बाद में मुझे 'दिगन्तर' के साथी से यह पता चला कि वह पाठ हटा दिया गया है और उसकी जगह कोई और पाठ आया है। लेकिन मैं यह सिर्फ यह बतला रहा हूँ कि इससे आप यह जान सकेंगे कि यह प्रक्रिया बहुत दिलचस्प है।

एक दूसरी, पर्दे के पीछे चलने वाली बहस की एक बानगी मैं आपको देना चाहता हूँ। अभी एनसीईआरटी में संस्कृत की किताब के बारे में जो बहस हुई उसे मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। उसमें हमारी एक मित्र शामिल थीं। अब हर जगह कोटा सिस्टम है और यह कोटा सिस्टम बहुत उपयोगी है। मसलन, अगर कोटा सिस्टम न हो तो बहुत सारी किताबों में आप स्त्री से संबंधित एक भी पाठ नहीं देखेंगे। अब चूंकि यह बाध्यता है कि स्त्री को लेकर एक पाठ

दिया जाना चाहिए इसलिए लोग सोचते हैं। लेकिन उसमें भी चालाकी देखिए अगर महादेवी वर्मा का कोई पाठ आ गया तो आप किसी दूसरी स्त्री पर पाठ नहीं दे सकते हैं क्योंकि तुरंत वहां पर जो पुरुष सदस्य हैं वह हल्ला करते हैं कि, आ गया, आ गया; स्त्री पर एक पाठ आ गया। और अगर किसी दलित की आत्मकथा का एक अंश आ गया तो यदि बहुत सुन्दर यात्रा संस्मरण किसी दलित का लिखा हुआ है तो सब कहेंगे कि साहब दलित का एक पाठ पहले ही आ गया। साहब, दस में से नौ सवर्णों के पाठ हैं, पुरुषों के पाठ हैं, इसमें आप नहीं कहते कि आ गया, आ गया; पुरुषों का पाठ आ गया। इसे हटाइए। क्या आफत आ जाएगी यदि दस में से नौ पाठ स्त्रियों के लिखे हुए हों। लेकिन शायद आपको एक भी किताब ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें यह साहस दिखाया गया हो। जिसमें दस में से छह पाठ, छोड़िए आठ को, दस में से छह पाठ भी ऐसे हों जो स्त्रियों पर लिखे हों। और आप यहां पर ऐसी कोई किताब दिखा दें जिस में दस में से तीन पाठ दलितों पर लिखे हुए हों। ऐसा संभव नहीं है, तो एनसीईआरटी की संस्कृत की इस किताब में जो कि 'देववाणी' है, जिससे आप भी सहमत होंगे और मैं भी सहमत हूँ। क्योंकि हम जैसे अधम पापी उस वाणी को बोल नहीं सकते! पाठों का चयन हो रहा था और एक स्त्री चरित्र को चुनना था। समिति में प्रस्ताव आया रानी दुर्गावती, तो हमारी मित्र ने कहा बहुत हो गया रानी-वानी, अब हम लोग ऐसा करें कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति में कहा गया है कि स्वतंत्रता आंदोलन के मूल्यों को रखना है। वे अपनी तरफ से चतुराई कर रही थीं वह अभी मैं आपको बता रहा हूँ - कि हम एक स्वाधीनता आंदोलन की किसी स्त्री चरित्र को लाएं। तो सबने कहा आप दे दीजिए, तो उन्होंने कहा अरुणा आसफ अली। संस्कृत की उस समिति में सन्नाटा छा गया। क्योंकि यह नाम है और इसका पुनः मैं उच्चारण कर रहा हूँ, अरुणा आसफ अली। सबने सिर खुजलाया यह धर्मनिरपेक्ष राज्य की एक धर्म निरपेक्ष सरकार की, एक धर्मनिरपेक्ष संस्था की एक धर्म निरपेक्ष समिति थी; लेकिन उसने कहा कि इससे थोड़ा बच्चों के दिमाग में गलत असर पड़ता है। इस तरह के चरित्र को पाठ्यपुस्तक में जगह देना, प्रतिष्ठित करना इससे बच्चों का चरित्र बिगड़ सकता है। क्योंकि अरुणा के बाद में आसफ अली था, संस्कृत में तो यह अक्षम्य है। बाकी जगह ऐसा दूषण हो सकता है। संस्कृत में नहीं हो सकता। हमारी जो मित्र थीं उनको शायद यह अहसास था कि उनका यह प्रस्ताव शायद गिर जाएगा। उन्होंने दूसरा पता भी रखा था। और दूसरा पता रखा सामने पंडिता रमा बाई का, तो सबने कहा हां, हां, पंडिता रमा बाई! क्योंकि उनके नाम के पहले पंडिता लगा हुआ है। फिर उनके पक्ष में तर्क प्रस्तुत किया गया कि वे संस्कृत की विदुषी थीं वगैरह, वगैरह। तो संस्कृत के लोगों ने स्वीकार कर लिया कि ठीक है,

पंडिता रमाबाई पर पाठ हो सकता है। लेकिन जब पाठ उनको दिया गया और पाठ को शाम को पढ़कर जब वो दूसरे दिन पहुंचे तो फिर सन्नाटा था। क्योंकि पंडिता रमा बाई तो अरुणा आसफ अली से भी गई गुजरी थीं। उनका नाम पंडिता रमा बाई एक धोखे की तख्ती है क्योंकि वे ईसाई हुई थी, और उसके पहले जो पाप वो कर चुकीं थी वह यह कि उन्होंने कोर्ट मैरिज कर ली थी। यज्ञ, विधान, विधि आदि कोई चीज होती है ! उन सबकी उपेक्षा करके अदालत में जाकर जो कि मलेच्छों के द्वारा लागू की गई एक चीज है, शादी कर लेना! तो यह तर्क वहां दिया गया कि देखिए कुछ अच्छा असर नहीं पड़ता है। ठीक है जब इतनी ही जिद है तो पाठ दे दीजिए लेकिन इसमें से इस तथ्य का उल्लेख हटा दीजिए कि वे ईसाई हो गई थीं। इस तथ्य का उल्लेख भी हटा दीजिए कि उन्होंने कोर्ट मैरिज की थी। आप देख रहे हैं पंडिता रमाबाई का जीवन जिन चीजों से बना है, पाठ्यपुस्तक क्या कर रही है उनका ? उनके जीवन का शुद्धीकरण कर रही है! ऐसा पंडिता रमा बाई का कोई नहीं कर सका। स्वामी दयानन्द भी नहीं कर सके। वह एक अलग किस्सा है। वह भी चाहते थे कि रमाबाई को शुद्ध तरीके से रखें पर वह सफल नहीं हुए। लेकिन पाठ्यपुस्तक में ऐसा करना संभव हुआ। यह उल्लेख हटा दिया गया कि उन्होंने कोर्ट मैरिज की और यह उल्लेख भी हटा दिया गया कि वे ईसाई बनीं।

अब यह घटना में आपके सामने क्यों रख रहा हूं ? जिन्होंने ये प्रस्ताव रखा उन्हें क्या करना चाहिए था ? क्या उन्हें विरोध प्रकट करते हुए पूरे पाठ को वापस लेना चाहिए था ? या जैसा उन्होंने किया, समझौता करते हुए इस पाठ को इस रूप में, इस उम्मीद में रहने देना चाहिए था कि शायद किसी पाठक के दिमाग में पंडिता रमाबाई का नाम टका रह जाए! शायद कभी वह उमा चक्रवर्ती की किताब, शायद वह कभी मीरा कोसाम्बी की किताब लाईब्रेरी के किसी खाने से निकाल कर पढ़े। क्योंकि उसने सावर्ती कक्षा में पंडिता रमाबाई का नाम सुन रखा है। सिर्फ इस धुंधली-सी उम्मीद में वह पाठ उन्होंने शुद्ध रूप में या शुद्धीकृत रूप में वहां जाने दिया। यह वह बहस है जो इससे निरपेक्ष रूप से चलती है कि केन्द्र में सरकार किसकी है। इसलिए अगर कोई लिखता है कि सरकार यह आ गई तो पाठ्यपुस्तक ऐसी बन गई तो यह बहुत सरलीकृत तर्क है। क्योंकि पाठ्यपुस्तक इतने सरलीकृत ढंग से बनती नहीं हैं। पाठ्यपुस्तक लोग बनाते हैं, हमारे आपके जैसे लोग। और वे लोग कई बार राज्य के एजेण्डा का प्रतिरोध भी कर पाते हैं, कई बार वह उसके शिकार भी होते हैं। कई बार वो अपनी विचारधाराओं के भी शिकार होते हैं। लेकिन पाठ्यपुस्तक बनाते समय पाठ्यपुस्तक समितियों में जो बहस चलती है, जो कशमकश चलती है और समझौते के जिस

बिन्दु पर पाठ्यपुस्तक समितियों के लोग पहुंचते हैं, उस प्रक्रिया का दस्तावेज बनाना एक बहुत दिलचस्प कार्य हो सकता है। अगर आप अलग-अलग राज्यों की अलग-अलग जगहों की और अलग-अलग राजनैतिक विचारधाराओं की यानी आप मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार के राज्य में बनने वाली पाठ्यपुस्तक, भारतीय जनता पार्टी की सरकार वाले राज्य में बनने वाली पुस्तक और एनसीईआरटी वाली पाठ्यपुस्तकें देखें तो आपको कुछ एक परिदृश्य उभरता हुआ सा दिखलाई देगा कि, पाठ्यपुस्तक बनती कैसे हैं ? मैं सिर्फ यह कह रहा हूं कि ये वो दबाव हैं जिनके अन्तर्गत पाठ्यपुस्तक निर्माण का कार्य चलता है और इन तनावों का समाधान करते हुए पाठ्यपुस्तक अन्तिम परिणिति में पहुंचना चाहती हैं क्योंकि उनको छपना है, एक समय सीमा है, जिसमें उसको छपकर निकलना है। और बहस अनन्त नहीं हो सकती। विचारधारात्मक बहसें अनन्त नहीं हो सकती हैं। विचारों को आने से रोका भी नहीं जा सकता है। इसलिए इन पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के पीछे समाज के अन्दर जितने भी प्रकार के विचार काम कर रहे हैं, जितनी भी प्रकार की राजनैतिक विचारधाराएं काम कर रही हैं, आपको इन पाठ्यपुस्तकों में कहीं न कहीं उसकी झांकी मिल जाती है। यानी आप एक सजग विश्लेषक हैं तो आप यह देख सकते हैं कि इस पाठ्यपुस्तक में यह पाठ किस तरह से शामिल कर लिया गया है। इस पाठ को ऐसी बहस करके शामिल कर लिया गया होगा। यह पाठ कैसे घुस गया, क्योंकि कई सारे पाठ घुस जाते हैं। लोग अचेत बैठे रहते हैं और एक पाठ किताब में घुस जाता है। लोग सोच भी नहीं पाते हैं कि क्या हो रहा है।

मसलन आप एक पाठ यह पढ़ें जो राजस्थान की किताब में है कि संस्कृत भाषा भारत की सारी भाषाओं की जननी है, तो आप क्या कहेंगे ? क्या यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की लाईन है ? यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की लाईन है लेकिन यह एक सामान्य भारतीय जनमानस में बैठी हुई बात भी है। इसलिए अगर कोई बैठा हुआ शिक्षक वहां पर लिख रहा है कि संस्कृत सारी भारतीय भाषाओं की जननी है और आपने ध्यान नहीं दिया तो यह बात पाठ्यपुस्तक के अन्दर चली जाएगी, घुस जाएगी। और इस तरह के बहुत पाठ घुस जाएंगे। जैसे अभी मैं जब राजस्थान की पाठ्यपुस्तकें पढ़ रहा था तो उसमें संस्कृत की किताब पढ़ते हुए मैंने पाया कि, संस्कृत की किताबों का किस्सा और भी दिलचस्प है। कहीं भी आप को अपना गुणगान इतना नहीं मिलेगा। हमारे यहां शास्त्रों में कहा गया है कि यदि किसी को दण्डित करना हो तो सबसे बड़ा दण्ड यह है कि सभा में उसको खड़ा कर दीजिए और यह भी संस्कृत का ही श्लोक है, और उससे कहिए कि तुम अपनी प्रशंसा करो। उससे बड़ा दण्ड कुछ

नहीं है। यानी मैं सभा में खड़े होकर अपनी प्रशंसा करूँ तो यह मुझे मिलने वाला सबसे बड़ा दण्ड है। संस्कृत को यह दण्ड प्रत्येक कक्षा में दिया जाता है। संस्कृत प्रत्येक कक्षा में अपनी किताब में अपनी ही तारीफ़ करती हुई दिखाई देती है। मैं सबसे महान हूँ, मैं सबसे प्राचीन हूँ, सारी भाषाएं मुझसे ही निकली हैं, मेरा साहित्य सबसे श्रेष्ठ है, दुनिया में जितना ज्ञान-विज्ञान है वे मेरे अन्दर है, इतनी आत्म-प्रशंसा! इसके पीछे निश्चित रूप से संस्कृत की असुरक्षा है। और संस्कृत की ही नहीं, संस्कृत पढ़ाने वालों और संस्कृत जिनके पेशे में किसी न किसी ढंग से शामिल है, सब की है। तो मैं संस्कृत का पाठ पढ़ रहा था। उसमें एक पाठ पढ़ा कि वेद इस दुनिया के सबसे पुराने ग्रंथ हैं। दूसरा उसमें यह लिखा हुआ है कि वेद इस दुनिया के सारे धर्मों का मूल है। इसलिए सारे धर्म वेदों से ही निकले हैं। मैं यह कहना चाहूँगा कि राजस्थान कि अभी की जितनी किताबें हैं, बाकी किताबों में भी, यह सावधानी बरती गई है कि हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई इन सब का उल्लेख किया जाए। ऐसा नहीं है कि उल्लेख नहीं किया जाए। लेकिन यह पाठ जो कि बहुत ही भड़काऊ हो सकता है और जिस पर काफी विवाद हो सकता है, इस पाठ पर या तो ध्यान नहीं गया या जो बात हमारे दिमाग के अन्दर बैठती हुई है वो बात हावी हो गई और यह पाठ चला गया और छप गया। और अब वो 9 लाख प्रतियों में बंटकर पढ़ा जा रहा है और पढ़ाया जा रहा है और उस पर प्रश्न बनाए जा रहे हैं। तो यह वह एक जटिल प्रक्रिया है और पाठ्यपुस्तक की संरचना भी इसलिए अत्यधिक जटिल होती है। लेखकों का चयन, विचारधाराओं का चयन, मसलन मैंने राजस्थान की किताबों को देखा तो मुझे बहुत आश्चर्य हुआ कि राजनीति विज्ञान की किताब जो बनाई जा रही है और भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की चर्चा की जा रही है, तो काफी सावधानी बरती गई है। यानी वह बाल गंगाधर तिलक, दादा भाई नौरोजी और मौलाना आजाद, नेहरू, गांधी सबको शामिल करती है और एक अकादमिक तरीका अपनाती है। यानी वह इनकी विशेषताएं भी बतलाती है और इनकी आलोचनाएं भी बतलाती है। इनके मूल्यांकन पर हर पाठ के अंत में एक अंश लिखा हुआ। जिसमें आपको बताया गया है कि इनके विरोधी ऐसा कहते हैं, महात्मा गांधी के विरोधी। लेकिन फिर किताब उनके बचाव करने की कोशिश भी करती है। हालांकि मुझे यह शिक्षाशास्त्रीय तरीका पसंद नहीं है जिसमें आप उनके बचाव करने की कोशिश करें। आप विद्यार्थियों को उस पर विचार करने के लिए छोड़ सकते हैं। लेकिन पाठ्यपुस्तक एक स्टेण्ड लेने की कोशिश करती है। और वो स्टेण्ड आमतौर पर, वो गांधी हों या नेहरू हों, उनके पक्ष में है। लेकिन इसी बीच से होते हुए वह अपना विचारधारात्मक कार्य भी करती है। कैसे ?

अगर आप राजनीतिशास्त्र की इस किताब को देखें तो इसमें स्वाधीनता आन्दोलन के जितने भी विचारक हैं उन सबको, एक को भी अकेले एक पूरा पाठ नहीं दिया गया है। यदि नेहरू हैं तो गांधी के साथ हैं। यदि तिलक हैं तो उनके साथ चार लोग और हैं। कोई और है तो उनके साथ चार लोग और हैं। यानी कि सावरकर भी तीन और लोगों के साथ हैं। यह सौभाग्य सिर्फ एक चिन्तक को मिला है और जिन पर एक पूरा पाठ है। वह उस किताब का सबसे अंतिम पाठ है। वे चिन्तक हैं पंडित दीनदयाल उपाध्याय। जिस किताब का अन्त के पहले वाला पाठ महात्मा गांधी और नेहरू संबंधी अध्याय है, उस किताब का अन्तिम अध्याय पंडित दीनदयाल उपाध्याय है। इससे इस किताब की संरचना को, किताब कहां खत्म होना चाहती है, उसकी इच्छा को और किताब क्या संदेश देना चाहती है, इस मंशा को भी आप समझ पाते हैं। फिर जब आप दीनदयाल उपाध्याय को पढ़ रहे हों, तो आपको पीछे जाने की इच्छा होती है। यानी जब आपने एनीबेसेन्ट वाला पाठ पढ़ा हो तो आप यह ध्यान देंगे कि किसी भी नेता के भाषण के अंशों को इतना उद्धृत नहीं किया गया है जितना एनीबेसेन्ट के भाषणों को उद्धृत किया गया है। क्यों ? क्योंकि वे भारतीय नहीं थीं, विदेशी थीं। एनीबेसेन्ट के भाषणों के जिन अंशों को उद्धृत किया गया है उनमें से एक अंश मैं अपनी भाषा में सुना रहा हूँ। वह यह है कि, “भारतवर्ष में केवल एक धर्म है जिसकी जड़ भारतवर्ष के अतीत में जाती है। वह धर्म है हिन्दुत्व। भारत से यदि शेष सारे धर्म लुप्त हो जाएं तो भारत का स्वरूप नहीं बदलेगा। लेकिन यदि भारत से हिन्दुत्व समाप्त हो जाए तो फिर भारत का क्या रहेगा।” यह एनीबेसेन्ट का भाषण है और यह सिर्फ एक है। एनीबेसेन्ट के भाषणों के और भी अंश इस किताब में उद्धृत हैं। मैंने ध्यान देने की कोशिश की कि किसी और नेता के भाषण के अंश हैं कि नहीं, तो मैंने देखा कि चार या पांच उद्धरण एनीबेसेन्ट से हैं, किसी और के इतने उद्धरण नहीं हैं। और इतने लंबे-लंबे उद्धरण तो हैं ही नहीं। गांधी के नहीं हैं, नेहरू के नहीं हैं और किसी नेता के नहीं हैं। हर नेता की राष्ट्र की परिभाषा मौजूद है लेकिन जिस नेता की राष्ट्र की परिभाषा का किताब पक्ष ले रही है वो सावरकर के राष्ट्र की परिभाषा है। यह कहा गया है। सावरकर के द्वारा जो परिभाषा दी गई है उसके पहले यह कहा गया है कि, अस्पष्ट हिन्दू शब्द को स्पष्ट परिभाषा देने का काम सावरकर ने किया और उसके बाद उनका वह श्लोक दिया गया है जिसमें कहा गया है कि जिसकी पितृ भूमि और पुण्य भूमि एक हो, जो भारत वर्ष को अपनी पितृ भूमि और पुण्य भूमि मानता है, वही इसका सदस्य है। उसके बाद में लिखा गया है, जो कि काफी हास्यास्पद लगता है, इसके तुरंत बाद इस पर टिप्पणी है कि इस प्रकार यह एक पंथ निरपेक्ष राष्ट्रवाद की परिभाषा है। ठीक इसके

बाद यह किताब की टिप्पणी है जिसे किताब के लेखक करते हैं। इससे आपको स्पष्ट होता है कि किताब पक्ष किसका ले रही है। और किताब का अन्त होता है दीनदयाल उपाध्याय से। चूंकि भारतीय जनसंघ के सबसे अहिंसक नेता के रूप में और सबसे धीर-गंभीर और उदार व्यक्ति के रूप में लोगों के दिमाग में अभी भी दीनदयाल उपाध्याय की छवि है तो जो उनकी जो राष्ट्र की परिभाषा है उसको आपको और ध्यान से पढ़ना पड़ता है। क्योंकि उसमें लिखा हुआ है कि, दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं, कि प्रत्येक राष्ट्र की एक चिति होती है। वह चिति क्या है ? वह चिति उसका मूल स्वभाव है। हालांकि उस राष्ट्र पर कालक्रम में अनेक प्रभाव पड़ सकते हैं लेकिन उसका मूलस्वरूप उस चिति से ही निर्धारित होता है। अब अगर आप और भी अंश पढ़ेंगे जैसा कि मैंने कहा कि एनीबेसेन्ट के अलावा, यह गौरव सिर्फ दीनदयाल उपाध्याय को मिला है। उनके अनेक उद्धरण इस किताब में दिए गए हैं। जिन उद्धरणों का यह किताब पक्ष लेती है। और दीनदयाल उपाध्याय का पाठ खत्म करते-करते आपके मन में यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस बात को सावरकर कह रहे हैं कि जिसकी पितृ भूमि-पुण्य भूमि एक हो, उसी बात को दीनदयाल उपाध्याय इस रूप में कह रहे हैं कि, भारत नामक राष्ट्र की जो गंगा प्रवाहित हो रही है अनादिकाल से, उसमें पिछले डेढ़ हजार वर्ष से अनेक नदी-नाले भी आकर मिल गए हैं। लेकिन उन नदी-नालों की गंदगी पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए। यह पुनः दीनदयाल उपाध्याय का वाक्य है। वह भी इस गंगा में मिलकर गंगा हो जाते हैं और इसलिए गंगा तो गंगा ही बनी रहती है। वो गंगा किसकी है ? यह आप सबको पता है। सभी चतुर हैं और सभी चतुर बाकी लोगों को भी चतुर बनाएंगे, ऐसी अपेक्षा उस पाठ में है। इसलिए दीनदयाल उपाध्याय के अनेक उद्धरणों के जरिए राष्ट्र की उसी परिभाषा को स्थापित किया गया है जो परिभाषा एक शब्द में एनीबेसेन्ट रखती हैं, दूसरे शब्द में सावरकर रखते हैं।

यह कार्य दूसरे ढंग से दूसरी किताबों में किया गया है यानी आप जब समाजशास्त्र की किताब पढ़ते हैं या सामाजिक विज्ञान की किताब पढ़ते हैं तो आप पढ़ते हैं कि दुनिया में जितना भी ज्ञान अभी है वह ज्ञान भारतवर्ष में पहले से मौजूद था। अब मैं बचपन से यह सुनता आ रहा हूँ। हम लोग सुनते हैं, हंसते हैं और मजाक उड़ाते हैं। यानी भारतवर्ष में तो विमानन की विद्या मौजूद थी, भारतवर्ष में जहाजरानी की विद्या भी मौजूद थी। भारतवर्ष में धातुओं को बनाने की विद्या भी मौजूद थी। भारतवर्ष में, यदि आप लोग नहीं जानते हैं तो, शल्यक्रिया तो पहले से मौजूद थी। जिसको अंग प्रत्यारोपण कहते हैं उसका तो प्रमाण ही हमारे यहां

हैं क्योंकि गणेश का सिर गुस्से में आकर गलती से काट दिया था उस पर जो हाथी का सिर लगाया गया, वह अंग प्रत्यारोपण नहीं था तो क्या था ? इसलिए इसका पहला उदाहरण है तो वह हमारे यहां है। प्लास्टिक सर्जरी भी दुनिया ने हिन्दुओं से ही सीखी है। ये उस किताब में लिखा हुआ है। वह सोचती है कि लोगों को मालूम है कि हमारे यहां विमानन की विद्या मौजूद थी और जर्मन लोग चुराकर यहां से ले गए और फिर राइट बंधुओं ने उस पर कब्जा कर लिया वगैरह-वगैरह।

यह हम लोग बचपन से सुनते आ रहे हैं। संघ की शाखाओं में यह बात कही जाती रही है, चूंकि मेरे चाचा संघ के नेता रहे हैं इसलिए मुझे उस ज्ञान को प्राप्त करने का अवसर मिलता रहता था और कुछेक शाखाओं में मैं भी गया हूँ। लेकिन जहां यह किताब बाजी मारती है वह यह कि, वह कहती है कि, “श्रमिकों के अराध्य देवता विश्वकर्मा रहे हैं और श्रमिकों की संगठन के द्वारा शोषण के विरुद्ध रक्षा की जाती थी।” यानी ट्रेड यूनियनों का भी अविष्कार भारत में हो चुका था और विश्वकर्मा पहले ट्रेड यूनियन नेता थे। ये बात सीपीएम और सीपीआई के नेताओं को अब तक नहीं पता थी वरना अपना प्रतीक चिन्ह विश्वकर्मा को बनाना चाहिए था जो इस किताब में लिखा हुआ है। यह पाठ जो समाज विज्ञान की किताब में है, यह संस्कृत की किताबों में अलग-अलग स्तरों पर है। इतने पर बात खत्म नहीं हो जाती है। मान लीजिए कि आप समाज विज्ञान नहीं पढ़ते हैं, तो आपको यह अमूल्य ज्ञान कैसे मिलेगा कि भारत वर्ष क्या था ! तो हमने आपके लिए अर्थशास्त्र में इसका इंतजाम कर दिया है।

अर्थशास्त्र में हमने एक पाठ अर्थशास्त्र के सिद्धांतकारों पर लिया है। जिसमें अर्थशास्त्र का आरंभिक चिन्तन कहां से चलता है ? मनु से चलता है और मनु कौन थे ? मनु थे ब्रह्मा जी के मानस पुत्र, यह इस किताब लिखा है। गोया कि ब्रह्मा जी नाम का कोई ऐतिहासिक चरित्र मौजूद था जिसके मनु पुत्र रहे होंगे और मनु ने सबसे पहले आर्थिक चिन्तन किया। मनु के बाद वृहस्पति ने किया, वृहस्पति के बाद शुक्राचार्य ने किया वगैरह, वगैरह। और उसके बाद गांधी जी ने किया। गांधी जी के बाद किसने किया ? जे. के. मेहता ने और जे. के. मेहता के बाद किसने किया ? दीनदयाल उपाध्याय ने किया और उनके बाद बेचारे अर्मत्य सेन ने किया। अर्मत्य सेन को अपनी वंशावली जानकर काफी प्रसन्नता होगी कि वे वंशज किसके हैं। वे मनु के वंशज हैं। लेकिन आप मनु के इस चक्र को ठीक से नहीं समझ पा रहे हैं तो आप संस्कृत की किताबों को ध्यान से पढ़िए जिसमें लगभग हर किताब में मनु स्मृति का एक पाठ दिया हुआ है। जिसमें यह कहा जाता है कि मनु दरअसल जाति-पाति को नहीं

मानते थे। यह भी कहा जाता है कि मनु को भारत में मानव जाति का पिता माना जाता है। अब ध्यान रखिए कि यह किताब 2006 में पढ़ाई जा रही है, जब भारत में दलित आन्दोलन बड़ा प्रबल हो गया है। जो दलित आन्दोलन मनुस्मृति को जलाए जाने यानी 25 दिसम्बर को एक बड़ी घटना के रूप में मनाता है। लेकिन उन बच्चों को मनु को मानव जाति के पिता के रूप में पढ़ना, अर्थशास्त्र के आरंभकर्ता के रूप में पढ़ना, उनके लिए एक बाध्यता है। जैसा मैंने कहा कि संस्कृत, अर्थशास्त्र, विज्ञान कोई भी किताब हो उस किताब में इस एजेण्डा को एक या दूसरे तरीके से लागू कर दिया गया है।

किताब, जैसा मैंने कहा कि, सिर्फ अन्तर्वस्तु नहीं है। उसके अंदर कौनसे शब्द हैं, कौनसी तस्वीरें हैं ? जब हम अंग्रेजी की किताब देख रहे थे, अंग्रेजी की किताबों को देखते समय मेरा ध्यान उने मुखपृष्ठ पर गया। यहां विवेकानन्द हैं। इस पर तो आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए, विवेकानन्द ने जो उतिष्ठ जागृतः, जो उपनिषद का प्रचलित पद है, का इस्तेमाल किया। इसलिए इस पर भी आपकी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस तरह की और भी किताबें हैं। यदि आप इनके मुखपृष्ठ को देखें तो आपको ऐसा लगेगा कि हिन्दू कथाओं को बताने वाली किताबें हैं। जब मैं उनके चरित्रों को देख रहा था तो मैंने यह देखा कि उसमें खोजने से भी आपको मुस्लिम चरित्र वाला पाठ शायद ही मिलता है। हिन्दी की किताबों में जो चतुराई बरती गई है जिस पर कोई आपत्ति नहीं कर सकता क्योंकि हम भी यह मांग करते रहें हैं कि पाठ्यपुस्तकों में प्रामाणिक पाठ होने चाहिए।

इन पुस्तकों की पैरवी में कहा जाएगा कि हमने प्रेमचन्द, मैथलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, दिनकर, सभी तो दिए हैं। लेकिन चतुराई से उनकी वैसी ही रचनाएं हैं जो हिन्दू चरित्रों, हिन्दू मिथकीय कथाओं आदि-आदि से संबंधित हैं। और इस तरह पूरी किताब उस एजेण्डा को लागू करती है जो एजेण्डा आप चाहते हैं और आपकी काट भी हो गई। क्योंकि आपके ही लेखक मौजूद हैं। प्रेमचन्द का वह निबंध दिया गया है जिसमें उन्होंने हिन्दू सभ्यता का महत्त्व बतलाया है। प्रेमचन्द के बाकी निबंधों को छोड़ दीजिए, उनकी पण्डित मोटेराम शास्त्री की कहानी को भी छोड़ दीजिए, क्योंकि वह ब्रह्मणों का अपमान करती है और उसके चलते प्रेमचन्द पर काफी आक्रमण हुआ था।

पाठ्यपुस्तक निर्माण में एक तरफ आपको क्रूरता दिखाई देगी। वह क्रूरता इसकी प्रस्तुति में भी है। आप अगर ये किताबें देखेंगे तो लगेगा कि सड़क पर बिकने वाले कोई पेम्पलेट हैं। इसके पन्नों को आप देख लें और इनकी छपाई की गुणवत्ता को आप देख लें। उससे उसकी क्रूर उदासीनता का पता चलता है जो राज्य में

हमारे बच्चों के प्रति है। अगर आप इन किताबों को पढ़ना चाहें तो आप उन बच्चों का ख्याल करें जो अपने समुदायों के पहली पीढ़ी के बच्चे हैं जो स्कूल जा रहे हैं। जिनके घरों में रोशनी का वह इंतजाम नहीं है जो आप अपने घरों में अपने बच्चों को देते हैं। वहां वे इन फीकी, धुंधली छपाई वाली, रद्दी कागज में छपी किताबों को पढ़ने के लिए बाध्य हैं। मेरी आपत्ति इसकी अन्तर्वस्तु से ज्यादा इसकी छपाई, इसकी पूरी प्रस्तुति को लेकर है। जिससे यह पता चलता है कि राज्य अपने बच्चों को धूल-मिट्टी से ज्यादा कुछ समझता ही नहीं है। उनके साथ आप कैसे भी पेश आ सकते हैं। आप किताबों पर किताबें उठा कर देख लीजिए, टेढ़ी मेढ़ी छपी हुई, जिल्दसाजी सबसे घटिया। कागज तो सबसे रद्दी कागज बिकता है वह उठा कर ले लिया और तर्क यह दिया जाएगा कि इसके लिए हमारे पास पैसा नहीं है, आदि-आदि। लेकिन आप राजस्थान गौरव बढ़ाने के लिए करोड़ों-करोड़ रुपये के उत्सव जरूर आयोजित कर देंगे। अपने बच्चों के लिए आप सुन्दर ढंग से किताबें नहीं छाप सकते हैं। इसलिए पाठ्यपुस्तक पर जब हम बात करते हैं तो पाठ्यपुस्तक बच्चों के लिए पाठ्य कैसे हों ? इस विषय पर चिन्ता करना हमारे लिए जरूरी होता है। बच्चों के लिए वे पाठ्य तब ही हो सकती हैं जब बच्चे यह मानें कि वे उनसे कोई एक रिश्ता बना सकते हैं और वे उनकी जिन्दगी में कोई मायने पैदा कर सकती हैं। दुर्भाग्य से ये किताबें ऐसा नहीं कर पातीं। और इसमें मैं राजस्थान की किताबों को इनका सबसे फूहड़ संस्करण मानता हूं लेकिन मैं इससे हिन्दुस्तान के बाकी राज्यों की किताबों को बरी नहीं करता। पश्चिमी बंगाल जहां पर वामपंथी सरकार पिछले तीस साल से शासन कर रही है, अगर आप वहां की किताबों का विश्लेषण कर लेंगे, वह किताबें उतनी ही बुरी हैं जितनी बुरी किसी दूसरे राज्य की किताबें हो सकती हैं। उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी का शासन कितने दिन रहा, कुछ साल। लेकिन आप उत्तरप्रदेश में उन सालों से पहले और उन सालों के बाद की किताबों को उठाकर देख लें; उनकी हालत भी उतनी ही बुरी है। वह उसी तरह हिन्दू पूर्वाग्रह, उच्चवर्णीय हिन्दू मानसिकता, पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त पुस्तकें हैं। वे भी उसी तरह बच्चों से लापरवाही से पेश आती हैं। ये ज्यादातर किताबें, जो पाठ्यपुस्तकों के रूप में लगाई जाती हैं, आप इनका सिर्फ भाषा संबंधी विश्लेषण कर लीजिए। इस पर मेरा ध्यान इसलिए गया कि इस बार जब एनसीईआरटी ने अपना नया पाठ्यक्रम लागू किया, और यहां मैं अपनी बात रोकूंगा, तो उसमें एनसीईआरटी ने भाषा का पाठ्यक्रम तय करते हुए यह कहा कि हम व्याकरण को अलग से नहीं पढ़ाएंगे। हम व्याकरण को पाठों के जरिए ही पढ़ाएंगे। इस पर सबसे पहली आपत्ति मुरली मनोहर

जोशी ने की। उन्होंने कहा कि हिन्दी का अब पतन आरंभ हो गया है। क्योंकि हिन्दी अब शुद्ध नहीं बोली जाएगी। पंडित मुरली मनोहर जोशी की पार्टी की सरकार यहां है। अगर यहां की किताबों को उठाकर आप पढ़ेंगे तो यहां की किताब के लेखकों को यह अन्दाज लगाते रहना पड़ता है कि ह्रस्वकार कहां लगाएं? दीर्घकार कहां लगाएं? और फिर वह भ्रम में पड़ जाते हैं कि इकार सशक्तीकरण में ह्रस्व होता है क्योंकि शक्ति में ह्रस्व होता है। तो सशक्तीकरण तो कहीं वो ह्रस्वकार लगाते हैं। हम लोग जब संस्कृत पढ़ते थे और लिखते थे तो हमें यह पता नहीं होता था कि विसर्ग कहां देना है, तो कहा जाता था कि स्याही छिड़क दो। उस समय बॉल पेन नहीं होते थे तो स्याही छिड़क दी जाती थी। कहीं लग जाएगा, कहीं नहीं लगेगा। लग जाएगा तो पास हो जाएंगे, नहीं लगेगा तो देखा जाएगा। इसी तरह हमारे ये लेखकगण हैं। ये लेखकगण स्याही छिड़कते रहते हैं सशक्तीकरण में कहीं ह्रस्वकार दे दिया, कहीं पुष्टिकरण में दीर्घ इकार दे दिया। आपको पता ही नहीं चलता है कि हिन्दी इनको मालूम है कि नहीं मालूम है! और अगर कोई भी इन किताबों को ध्यान से पढ़े तो पहला सुझाव होगा कि इनको लिखने वालों की नौकरियां आप ले लीजिए क्योंकि उनको भाषा नहीं मालूम है। यह पढ़ाने का काम कैसे कर सकते हैं! ये इतनी खराब किताबें हैं, इतने बुरे ढंग से लिखी किताबें हैं। लेकिन जैसा कि मैंने आपसे कहा राजस्थान की किताबें हमारे लिए इसलिए खतरे की घंटी हैं कि वो सबसे ज्यादा मुखर हैं, उन्होंने अपनी मूर्खता, अपना फूहड़पन, अपनी लापरवाही कुछ भी नहीं छिपाई है। और इसलिए वह सबसे ज्यादा उजागर है। इसलिए हम इसे देख सकते हैं और कह सकते हैं। बाकी जगहों की पाठ्यपुस्तकों को देखेंगे तो कमोबेश आपको उनमें भी ये चीजें दिखलाई पड़ेंगी।

पहली बार, आजाद हिन्दुस्तान के इतिहास में पहली बार, मैं यह कह सकता हूँ कि राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद ने यह प्रयास शुरू किया है कि वह पाठ्यपुस्तकों को विचारधाराओं के दबाव से मुक्त करे और पाठ्यपुस्तकों को शिक्षाशास्त्रीय उपकरणों के रूप में विकसित करने का प्रयास करे। इसका विरोध बहुत ज्यादा हो रहा है। यह बात कह कर मैं अपना वक्तव्य खत्म कर रहा हूँ कि, इसका विरोध इस रूप में हो रहा है कि अगर इतिहास की किताब है तो वामपंथी इतिहासकार भी नाराज हैं। उनका कहना है कि साहब आप तो इतिहास के अनुशासन का सम्मान ही नहीं कर रहे हैं। समाजशास्त्र का व्यक्ति कह रहा है कि आप तो समाजशास्त्र के अनुशासन का सम्मान ही नहीं कर रहे हैं। आप ज्ञान को, जो उसकी गरिमा है, वह गरिमा प्रदान नहीं कर रहे हैं। ये पाठ्यपुस्तकें ज्ञान को लोगों के इस्तेमाल के रूप में पेश

कर रहीं हैं। यानी बच्चे जिस पर बातचीत कर सकते हैं। इससे उन विषय के विशेषज्ञों को जिनका अब तक पाठ्यपुस्तकों पर नियंत्रण रहा था, काफी नाराजगी है। क्योंकि उनका कहना है कि उनके अनुशासनों का अनुशासन भंग हो गया है। इसमें जो तर्क है, वह क्या है? पाठ्यपुस्तकों को लिखते समय प्रमुख क्या है? वह चाहे अर्थशास्त्र हो, चाहे गणित हो, समाज विज्ञान हो या इतिहास हो। प्रमुख क्या है और प्रस्थान बिन्दु क्या है? प्रस्थान बिन्दु क्या वह अनुशासन है या प्रस्थान बिन्दु वह बच्ची है जो उसको पढ़ेगी? प्रस्थान बिन्दु भी और पढ़ने का बिन्दु भी? अगर प्रस्थान बिन्दु भी वह बच्ची है और पढ़ने का बिन्दु भी वह बच्ची है तो फिर अनुशासन प्राथमिक शायद नहीं हो सकता। और फिर किताब को एक शिक्षाशास्त्रीय युक्ति के रूप में इस्तेमाल करने का काम दूसरे ढंग से किया जाएगा। वह ज्ञान के उन प्रचलित मानदण्डों के आधार पर नहीं किया जाएगा जो हमारे विशेषज्ञों ने बनाकर रखे हैं और जिनके जरिए वे स्कूल की कक्षाओं में भी पहली से लेकर बारहवीं तक नियंत्रण करना चाहते हैं।

मित्रो, मैंने राजस्थान की किताबों से वे सारे भड़काऊ उदाहरण नहीं दिए हैं, जो अखबारों में पहले आ चुके हैं। क्योंकि मेरा उद्देश्य यहां कोई बहुत चटखारा पैदा करना नहीं है। मैं सिर्फ यहां यह कह रहा हूँ कि राजस्थान में जिस तरह की किताबें बनी हैं वे सिर्फ इसलिए बन पाई हैं और वे सिर्फ इसलिए पढ़ाई जाती रहेंगी कि हमारे शिक्षित मध्यम वर्ग को स्कूली शिक्षा में दिलचस्पी बहुत कम है। उसे इस बात में दिलचस्पी कम है कि हमारे बच्चे सोचना किस ढंग से सीखते हैं और सोचना सीखते भी हैं या नहीं सीखते हैं। हमारे शिक्षित मध्य वर्ग को इस बात में दिलचस्पी है कि सफलता का जो स्वीकृत और प्रचलित मार्ग है उस मार्ग पर चलने की तकनीक बच्चों को मालूम है कि नहीं। इसलिए खुद को मूर्ख बनाना, दूसरों को मूर्ख बनाना, भुलावे में रखना और दूसरे को भुलावे में रहने देना! अगर ऐसा होता भी रहे तो धोखे में पूरी जिन्दगी इस शिक्षित वर्ग की गुजर जाती है और इसलिए उसको इन किताबों के चलने से बहुत एतराज नहीं होगा। मैं सिर्फ यह उम्मीद करता हूँ कि चूंकि राजस्थान एक ऐसी जगह है जहां ऐसी संस्थाएं हैं और ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भारतवर्ष में कई बार पहले प्रयोग किए हैं। इसलिए पाठ्यपुस्तकों को लेकर भी अगर कोई एक गंभीर बहस राजस्थान से शुरू हो सकती है जिसमें लोग अपनी भूमिकाएं तलाश सकें, वे चाहे शिक्षक हों, वे चाहे छात्र संगठन हों, वे चाहे शिक्षकों के संगठन हों, वो चाहे छात्र हों या वो चाहे राजनीतिक दल तो मुझे लगता है कि यही अपने आप में एक बहुत बड़ी बात होगी। ♦